Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. VI, Issue XI, July - 2013, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

गाँधीवादी चिन्तन के विभिन्न पक्ष

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. VI, Issue XI, July - 2013, ISSN 2230-7540

गाँधीवादी चिन्तन के विभिन्न पक्ष

Sonia Sagwan

Research Scholar, Singhania University, Rajasthan

---------------------------♦-----------------------------

सत्य, अहिंसा व नैतिकता का दर्शन : गाँधीजी का जीवन सत्य के प्रयोग में ही बीता । उन्होंने सत्य का कोई सिद्धांत या नवीन दर्शन प्रस्तुत नहीं किया । सत्य तो मानवता का चिरंतन, शाश्वत और सनातन मूल्य है। सत्य का क्या दर्शन होगा–क्योंकि सत्य तो सत्य ही है। व्यवहार में, जा कुछ मुझे आज जैसा धर्म, न्याय और उचित प्रतीत होता है, वह ''सत्य'' एवं उसका अन्वेषण एवं तद्नुसार आचरण ही सत्याग्रह है, जो सत्य के साक्षात्कार का साधन मार्ग है। यानि सत्य गाँधीजी के लिए कोई सिद्धान्त नहीं, बल्कि जीवन–सर्वस्व ही था। सत्य विचार, सत्यवाणी और सत्यकर्म–ये तीनों ही एक ही तत्व के तीन पहलू है । विचार से जो सत्य जान पड़े, उसी से सविवेक आचरण को सत्कर्म एवं उसी का नम्रतापूर्वक कथन ''सत्यवाणी'' कहा जाता है।

गाँधी दर्शन से सत्य को हटाने का प्रयत्न किया जाए तो यह सर्वथा असंभव कार्य होगा। गाँधीजी का आग्रह था कि हमारा प्रत्येक व्यवहार और कार्य सत्य के लिए होना चाहिए । वाणी, विचार और आचरण का सत्य होना ही सत्य है, सत्य की अर्चना ही सच्ची ईश्वर की भक्ति है।

पुराने समय में सत्यव्रत हरिशचन्द्र, सुकरात आदि लोगों ने भी किया। सत्य के प्रयोग में गाँधीजी की सबसे बड़ी देन यह रही है कि उन्होंने सत्याचारण को केवल वैयक्तिक जीवन का श्रृंगार नहीं, अपितु उसको सामाजिक राजनीतिक जीवन का भी अभिभाष्य अंग माना । इसलिए गाँधीजी का विचार वस्तुतः केवल विचार ही नहीं, आचरण भी था या यो कहिए कि विचार और आचार एक सम्मिलित रूप था ।

गाँधीजी का अनुभव था कि मानवीय सम्बन्धों की सभी समस्याओं का एकमात्र हल अहिंसा ही है, सभी मनुष्यों को समान समझने की प्रेरणा देती है। गाँधीजी का कहना था कि सत्यरूपी साध्य की खोज का नैतिक होना अनिवार्य है और यह खोज हम अहिंसा रूपी साधन के द्वारा ही कर सकते हैं, अतः अहिंसा सत्याग्रह का मूलमंत्र है। सत्य सर्वोच्च कानून और अहिंसा सर्वोच्च कर्त्तव्य है। सत्य की तरह अहिंसा की शक्ति असीम है।

स्थूल रूप में अधिकतर लोग केवल किसी को न मारना ही अहिंसा समझते है, पर गाँधीजी के अनुसार यह अहिंसा का केवल आंशिक अर्थ है। अहिंसा में इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है कुविचार मात्र हिंसा है ता उतावलीपन भी हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है, तो किसी का बुरा चाहना भी हिंसा है। गाँधी की अहिंसा की अवधारणा मन, वचन और कर्म से सम्बन्धित है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में गाँधी की अहिंसा एक ओर जैनों के अतिवादी और कठोर अहिंसा तथा दूसरी ओर मनु द्वा प्रतिपादित कुछ अधिक लचीली परिभाषा वाली अहिंसा के मध्य की अहिंसा है। व्यवहारिकता और मानवीयता के साथ–साथ गाँधीजी की अहिंसा में केवल बाह्य एवं स्थूल हिंसा का निषेध ही नहीं है, बल्कि यह ऊंचे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर टिकी है। हमारी क्रियाओं का शुभ होना हमारी अभिसंधियों की अच्छाई पर निर्भर करता है। परिणाम तो परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं, जिन पर हमारा सदैव नियंत्रण रहता ही नहीं है। इसलिए हमारे लिए तो हमारी अभिसंधि और हमारी सत्साधना ही मुख्य है। इसलिए अच्छे विचारों से और अच्छे साधनों से यदि हम एक कदम भी आगे बढ़ते हैं तो काफी है।

गीता में कहा गया है–कर्मण्येवा धिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। यानि प्रयत्न पर ही हमारा अधिकार है। अतः पूर्ण प्रयत्न ही पूर्ण नैतिक विजय है।

यदि अहिंसा को हम निषेधात्मक अर्थों में ही सीमित नहीं रखना चाहे तो भावनात्मक रूप से इसे गाँधीजी ''सक्रिय प्रेम और व्यापक करूणा'' कहते हैं। इसी को रोमों रोला ने ''अनन्त धैर्य और असीम प्रेम'' की संज्ञा दी है। इस दृष्टि से अहिंसा के साथ क्रोध, घृणा, प्रतिहिंसा आदि की भावनाओं का मेल नहीं बैठता, क्योंकि वे अप्रकट रूप में अहिंसा ही है। अहिंसा और घृणा दोनों हमारे हृदय में साथ–साथ नहीं रह सकते। इसलिए गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन के मूल में, जिनके प्रति असहयोग किया जाता था, उनके लिए घृणा नहीं बल्कि प्रेम ही था । मानव एक सामाजिक प्राणी है और उसकी सामाजिकता से ही सहजीवन की भावना निर्मित होती है जो अहिंसा का आधार है। अहिंसा को परमधर्म कहा जाता है क्योंकि यह धर्मों का तार्किक पूर्वाधार है। किसी भी व्यक्ति के प्रति अपना कोई भी कर्त्तव्य तभी निभाया जा सकता है जब वह जीवित हो। अतः अहिंसा न केवल व्यक्तिगत का, बल्कि समाज का भी नियम है। प्रेम के रूप में अहिंसा अन्य सभी सद्गुणों की जननी है। प्रेम से करूणा, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकार, दया आदि को जन्म मिलता है। इसीलिए गाँधीजी ने कहा था कि अहिंसा के बिना सत्य की भी साधना संभव नहीं है। ईश्वर प्रेम भी तो वास्तव में मानव प्रेम ही है, क्योंकि मानव भी उसी ईश्वर की कृति और उसी का अंश भी है।

हिंसा में मूल रूप से भय निहीत रहता है। सामान्ययता व्यक्ति शांति के साथ जीना और दूसरे को भी जीने देना चाहता है। जो निर्भय और सशक्त हृदय का है, वह सबों को प्यार करता है और किसी से भी घृणा नहीं करता। जब किसी के हृदय में प्रेम भावना उदित होती है तो वह फिर किसको धोखा देगा या किससे डरेगा नहीं। फिर उसे किसी से वैर का द्वेष ही क्यों होगा ? इसलिए अहिंसक व्यक्ति निर्भर होगा ही । अहिंसक व्यक्ति के प्रभाव का एक और भी मनोवैज्ञानिक आधार है। वह तो अपने प्राण की भी बाजी लगा देता है। बिना किसी द्वेष और ईर्ष्या से स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन एवं मृत्यु तक को भी

सदैव आलिंगन करने वाला महावीर पाषाण हृदय को भी सहज ही प्रभावित कर सकता है। प्रेम से प्रेम होता है, द्वेष से द्वेष। अतः विरोध से विरोध का शमन नहीं हो सकता।

अहिंसा निर्भयता और आत्मबल के बिना बेकार है। अहिंसा में प्रतिहिंसा की नहीं, अपितु क्षमा की भावना रहती है। प्रतिहिंसा भी एक प्रकार से कमजोरी का द्योतक है, किन्तु क्षमा वीरों का आभूषण है। आत्मबल शक्तिमान व्यक्ति ही किसी को क्षमा कर सकता है। इस प्रकार अहिंसा की परम्परागत भावना में गाँधीजी ने वीरता भर दी । कायरतापूर्ण शांतिवाद दुःख से निरपेक्ष एवं स्पष्ट अशांति या अशुभ ठीक है। शक्ति के बिना शांति वस्तुतः शांति नहीं, बल्कि परले दर्जे की कायरता और आस्थाहीनता है। अतः अहिंसा दुष्टता के सामने कायरतापूर्ण आत्मसमर्पण नहीं है, बल्कि दुष्टता और अन्याय के प्रतिकार के लिए एक अत्यन्त सक्रिय आक्रामक एवं प्रभावशाली उपकरण है। गाँधीजी आजीवन अन्यथा का प्रतिकार करते रहे । गाँधीजी ने कभी भी किसी भी प्रकार की अनैतिकता के सामने समपर्ण नहीं किया । अन्यायी के सामने समर्पण तो दूर की बात है उन्होंने कभी उसके सामने झुकना भी नहीं सीखा और अन्याय के प्रतिकार के लिए हमेशा सिर पर कफन बांधकर तथ प्राण हथेली पर रखकर जूझते रहे । इसलिए ही गाँधीजी का सत्याग्रह किसी प्रकार का ''शक्तिहीन आध्यात्मवाद का निष्क्रिय प्रतिकार नहीं, बल्कि अत्यन्त सक्रिय आध्यात्मिक शक्ति के रूप में प्रकट हुई। इसीलिए तो गाँधीजी ने बराबर इस बात पर बल दिया कि अहिंसा और कायरता दोनों साथ–साथ नहीं चल सकती है। उन्होंने तो यहां तक कहा कि कायरता से हिंसा अच्छी है।''

''अहिंसा वीरों का गुण है और इसे हम निष्क्रिय, दुर्बल और असहाय पूर्ण अधीनता की संज्ञा नहीं दे सकते हैं । गाँधीजी ने लोगों से स्पष्ट कहा कि यदि अहिंसक अंतिम बलिदान की तैयारी न हो, वहां आत्मरक्षा ही धर्म है। अहिंसा में समर्पण या पराजय का कोई स्थान नही होता। इसलिए जब किसी स्त्री का शीलभंग होता रहे तो फिर हिंसा–अहिंसा पर विचार करना उसके लिए मूर्खता है। उस समय वह किसी भी प्रकार से अपनी शीलरक्षा कर सकती है। संक्षेप में वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करें और इस प्रयत्न में अपना बलिदान भी कर दें।'' इसलिए गुंडों एवं बदमाशों से अपनी रक्षा में जो भी अहिंसा को कायरता या दुर्बलता का पर्याय नहीं बनना चाहिए।

जैसे हिंसा का जन्म मानव मस्तिष्क में होता है, उसी प्रकार अहिंसा का भी जन्म मानव मस्तिष्क में ही होगा। अहिंसा को पूर्ण होने के लिए मनसा–वाचा–कर्मण–तीनों तरह से युक्त होना चाहिए। कर्म का अधिष्ठान भी तो मानव–मन ही है। वचन भी हमारी मानसिक स्थिति को ही अभिव्यक्ति करते हैं। इसलिए अहिंसा के पूर्ण पालन के लिए हमें मनसा–वाचा हिंसा का परित्याग करना चाहिए। सत्य के अनेक रूप होते है। वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं, किन्तु हमारे ज्ञान की सीमाएं है। हम सर्वज्ञ हो नहीं सकते और जब हम सर्वज्ञ नहीं है तो फिर सत्य का एकमेव ज्ञाता अपने मान लेना दुराग्रह और हिंसा ही है। बाईबिल में भी कहा गया है कि हमारे पिता के घर में अनेक भवन है। इसलिए चिंतन और ज्ञान के क्षेत्र में स्वयं को एकमात्र सर्वा समझना न सिर्फ अहंकार है वरन् मूर्खता भी है। इसलिए अहिंसा की विचार साधना के लिए अनेकांत–दृष्टि ही उपयुक्त है।

''गांधीजी के लिए अहिंसा समाज और जगत से परे कोई चीज नहीं थी। यदि अहिंसा हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन की बुराईयों का निराकरण नहीं कर पाती तो हमारे लिए बेकार है। गाँधी की अहिंसा केवल नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र की ही अच्छी चीज नहीं है, बल्कि यह तो शत–प्रतिशत व्यवहारिक और समाजोपयोगी चीज है। अहिंसा को यह गाँधीजी की देन है कि उन्होंने इसे धार्मिक और नैतिक क्षेत्रों के अलावा भी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों मे उपयोग करके दिखाया। अहिंसा का अर्थ यदि प्रेम होता है तो फिर वहां शोषण और उत्पीड़न का स्थान नही होगा। प्रेम और परिग्रह, प्रेम और उत्पीड़न, प्रेम और विषमता, प्रेम और शोषण साथ–साथ नहीं चल सकते । गाँधीजी ने हिंसा का व्यापक और गंभीर अर्थ दिया'' यदि हत्या हिंसा है, तो शोषण भी हिंसा ही है। शोषण तो वस्तुतः इस युग की सबसे बड़ी शैतानियत और सबसे बड़ा अभिशाप है, इसलिए गांधी ने ग्राम स्वराज्य की कल्पना शोषण विहीन समाज की कल्पना है। शोषण हिंसा की जड़ में है, यह हिंसा की जननी है और यह स्वयं भी हिंसा ही है। ''शोषण केवल अन्यायपूर्ण आर्थिक लूट ही नहीं पैदा करता, बल्कि इससे समाज में अस्वस्थ्य प्रतियोगिता, पारस्परिक संघर्ष, घृणा और विद्वेष आदि प्रादुर्भूत होत है।'' हिन्द–स्वराज नायक पुस्तक में गाँधी जी ने आधुनिक सभ्यता की जो तीखी आलोचना की है, वह वस्तुतः विभिन्न प्रकार के शोषण पर आधारित हिंसक समाज की ही आलोचना है। जो वस्तुतः विभिन्न प्रकार के शोषण पर आधारित हिंसक समाज की ही आलोचना है। जो वस्तुतः विभिन्न प्रकार के शोषण पर आधारित हिंसक समाज की ही आलोचना है।

गाँधीजी ने अहिंसा की केवल व्यवस्था ही नहीं की, बल्कि अहिंसक समाज परिवर्तन का नवीन विचार भी रखा। गाँधीजी ने क्रांति की कल्पना में ही क्रांति उपस्थित की। क्रांति जो आज तक हिंसा और हत्या, क्रूरता और नृंशसता का पर्यायवाची समझी जाती रही, उसे गाँधी ने क्रांति मानने से इंकार कर दिया। गाँधीजी का मानना था कि क्रांति का अर्थ यदि मान्यता, आकांक्षा और जीवन के मूल्यों में आधारभूत परिवर्तन करना है तो यहां बल प्रयोग का स्थान ही नहीं है। इसलिए जितना ही अधिक बल प्रयोग या जोर–जबर्दस्ती होगी, उसकी उनती ही अधिक प्रतिक्रिया होगी और हमारी मान्यताएं परिवर्तित नहीं होगी। बंदूक से किसी का सिर फोड़ा जा सकता है, सिर को फेरा नहीं जा सकता है।

सुकरात एवं बुद्ध की भांति गाँधीजी भी नीति के प्रवक्ता व मानवतावादी विचारक थे। वे भी इन महात्माओं की भांति मानवता की मौलिक समस्याओं एवम् तात्कालीन परिस्थितियों से जीवन पर जुझते रहे तथा मानवता की सेवा में प्राणों की भी आहूति दे दी। इसलिए ही उन्हें मानव की मूलभूत परिस्थितियों का चिंतक कहा जाता है । गाँधी की अहिंसा व सत्याग्रह किसी राम राज्य की कल्पना नही थी बल्कि वास्तविक जीवन का मार्ग प्रशस्त था।

गाँधी ने अपने रचनात्मक बुद्धि से पूरब और पश्चिम के नैतिक विचारों का दिव्य अंशों का समन्वय किया और हिन्दू धर्म पर आधारित नीति–धर्म नए परिवेश में उसकी पुनर्व्याख्या प्रस्तुत कर उसे वैज्ञानिक, मानवतावादी और वस्तुवादी रूप प्रस्तु किया। एक ओर जहां गाँधी को रस्किन का अनटू दिस लास्ट, थूरो का सिविल डिसआविडिएन्स, बाईबिल का ''सरमन ऑन दी माउन्ट'' तथा टाल्सटाय का ब्रेड लेबर ने उन्हें प्रभावित किया तो दूसरी ओर हिन्दू संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा, अहिंसा का विशाल दर्शन ओर गीता के लिए हिंसा या खूनी क्रांति की नीति उन्हें पसंद नहीं आई तथा अपने चिन्तन से इन पर मनन करना प्रारंभ किया। उपरोक्त सभी

परिस्थितियों का लाभ उठाकर गाँधी ने सार्वभौम–नैतिकता के सिद्धांत की स्थापना की।

स्वतंत्रता का दर्शन : गाँधीजी के हृदय में राजनीतिक स्वतंत्रता की उत्कृष्ट कामना थी। वे स्वराज्य को सत्य का एक अंग मानते थे, अतः स्वाभाविक था कि स्वतंत्रता उनके लिए एक अत्याधिक पवित्र वस्तु थी। उनका विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थात् स्वतंत्रता तीव्र संघर्ष और कष्ट–सहन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। साम्राज्यवादी देशों को उन्होंने यह पूर्व चेतावनी दे दी कि दूसरों पर साम्राजय स्थापित करने की लालसा उनका नैतिक पतन कर देगी। गाँधीजी ने तिलक के इस कथन को हृदय से स्वीकार किया कि भारतीयों के लिए स्वराज्य–प्राप्ति उनका जन्म सिद्ध अधिकार है। गाँधीजी राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही आर्थिक स्वतंत्रता भी चाहते थे, वे सर्वोदय के उपासक थे, उनका स्वराज्य लाखों, करोड़ों पद–दलितों के लिए था। गाँधीजी ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के अर्थ में भी स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थन किया । उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए अर्पित कर दिया । उन्होंने व्यक्तिगत और नागरिक दोनों ही स्वतंत्रताओं का पक्ष लिया। उन्होंने भाषण और लेखन की स्वतंत्रता को स्वराज्य की आधारशिला माना।

गाँधीजी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक अनुशासन के सामजस्य के प्रति सचेत थे। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बहुमूल्य मानते थे, पर साथ ही यह भी नहीं चाहते थे कि व्यक्ति इस बात को भूल बैठे की वह प्रधानतः एक सामाजिक प्राणी है। अनियंत्रित व्यक्तिवाद जो जंगलीपन है। हमें व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा। सम्पूर्ण समान की भलाई के लिए सामाजिक संयम को प्रसन्नतापूर्वक अपनाने से ही वयक्ति और समाज दोनों की समृद्धि संभव है। महात्मा गाँधी ने यह भी कहा है कि राज्य कल्याण का एक साधन मात्र है जिसका उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित करना है। व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन, अतः राज्य में सदैव सेवा–भावना बनी रहनी चाहिए और उसे अपने व्यक्ति का स्वामी कभी नहीं समझना चाहिए। गाँधीजी का विचार था कि स्वतंत्रता और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य संघर्ष का मूल कारण ही यह है कि राज्य अपने स्वरूप में हिंसात्मक होता है। संघर्ष के कारणों को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य पर अधिक बल दें। यदि लोग केवल अधिकारों की बात करेंगे और कर्तव्य की उपेक्षा करेंगे तो चारों और अव्यवस्था फैल जाना स्वाभाविक है।

व्यक्ति राज्य सम्बन्ध – वैदिक ऋषियों से आरंभ कर गाँधीजी तक तथा प्लेटों से लेकर मार्क्स तक समस्त चिंतकों के समक्ष यह अत्यन्त विवास्पद समस्या रही है कि व्यक्ति व राज्य का पारस्परित सम्बन्ध कैसा होना चाहिए। जैसा कि हम जानते हैं कि सामाजिक दायित्व के साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समन्वय का प्रयास आदिम युग से आरंभ हुआ था एवं सामान्यतः इसी के कारण राज्य का उद्भव हुआ। जैसा कि अर्नेस्ट बार्कर ने कहा है, ''तभी से समस्त राजनीतिक चिन्तन की यह पूर्ववर्ती शर्त है कि व्यक्ति एवं राज्य के प्रतिवाद को पूर्ण रूप से समझा जाए।''

अन्य सामाजिक दार्शनिकों की भांति गाँधीजी के सामने यह समस्या रही। गाँधीजी द्वारा इस समस्या का समाधान कैसे खोजा गया, यह जानने से पूर्व इस समस्या के क्रमिक विकास पर संक्षिप्त ज्ञान करेंगे।

प्राचीन यूनानियों से ही प्रारंभ किा जाए तो ''राज्य जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य था एवं व्यक्तियों के प्रयास तथा कर्म उसमें उसी प्रकार समाहित रहते थे जिस प्रकार नदियां समुद्र में समा जाती है।'' ''दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय पाइथागोरसवासियों का था जिसने न केवल यूनानी दर्शन को बल्कि यूनानी राजनीति को भी प्रभावित किया था।'' उनकी शिक्षा की व्यक्ति को समाष्टि के अधीन रहकर सार्वजनिक कल्याण के लिए अनिवार्यतः कार्य करना चाहिए। वे सबका कल्याण राज्य द्वारा ही संभव मानते थे।

पाइथोगोरसवासियों के विरूद्ध सोफिस्ट सम्प्रदाय का विश्वास था कि व्यक्ति की तुलना समाज महत्वहीन है। उन्होंने राज्य नियंत्रण को नापसंद किया और बहुत से आधुनिक उदारवादियों के समान यह माना कि समाज के दुर्बल सदस्य उसके अधिक शक्तिशाली एवं सफल सदस्यों से अपनी रक्षा करने के लिए प्रशासन एवं नियमों का उपयोग करते हैं।

हम सबसे अन्वेषण के सदृश्य यूनानियों का अन्वेषण भी यही था, अधिकारों को प्राप्त करना और उनको सुरक्षित करना। अफलातून एवं अरस्तू के अनुसार न्यायानुसार व्यवस्थित राज्य में ही व्यक्ति का समुचित जीवन संभव है।

इन विचारों के विरूद्ध अंग्रेज दार्शनिक लॉक एवं फ्रासीसी समाजशास्त्री जे. जे. रूसो का विश्वास था कि मनुष्य प्रकृति स्वतंत्र एवं समान है। उनके अनुसार समाज की रचना समूहों द्वारा अपने सामान्य हित के लिए किए गए अनुबंधन के रूप में हुई किन्तु इसके पूर्व में भी मनुष्य–प्रकृति से अच्छे व शांतिप्रिय थे। रूसों ने ''प्राकृतिक मनुष्य'' का अपना सिद्धांत निरूपित करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि अत्याचार एवं गरीबी सभ्यता की व्याधियां है, अतः कोई शासक या विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होना चाहिए और मनुष्यों की ''प्रकृति की ओर लौट चलना'' चाहिए।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समाज की प्रकृति के बारे में दो विचार धाराएं चती है एक के अनुसार राज्य अपने पारस्परिक लोगों के लिए साथ–साथ रहने वाले कुछ व्यक्तियों का समूह मात्र है और दूसरे के अनुसार राज्य इससे कुछ अधिक भी है। राजनीतिक चिन्तन का परवर्ती झुकाव लोकतंत्र की स्थापना की ओर था, जो राजतंत्र का सामाजिक कल्याण के लिए उपयोग कर सकता था। यहां उल्लेखनीय है कि यद्यपि वर्तमान युग के प्रायः सभी राज्य लोकतंत्र के नाम ही कसम खाते हैं किन्तु फिर भी व्यक्तिगत एवं सामाजिक दायित्व का समन्वय नहीं हो पाया है । इसकी प्रक्रिया स्वरूप की मार्क्स जैसे क्रांतिकारियों ने एक ऐसे सिद्धांत को प्रस्थापित करने की चेष्टा की जिसके अनुसार राज्य का लोप हो जाएगा।

गाँधीजी के जीवन का या तो यों कहें कि मानवता का पथ–प्रदर्शक सिद्धांत सत्याग्रह अर्थात् सत्य पर आरूढ़ रहना है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने सत्य का अनुमान करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए और किसी भी रूप में बाहरी आरोपण नहीं होना चाहिए । अतएव आसानी से इनकी कल्पना की जा सकती है कि शक्ति पर निर्भर रहने वाले के अस्तित्व को वे कभी पसंद नहीं कर सकते थे । गाँधीजी का कथन है–''राज्य हिंसा के धनीभूत एवं संगठित रूप का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के तो आत्मा होती है, किन्तु राज्य आत्महीन यंत्र है, इसे हिंसा से, जिस पर इसका अस्तित्व ही निर्भर है, कभी मुक्त नहीं किया जा सकता । इसलिए व्यक्तिगत सम्पति के समाजीकरण

जैसे अच्छे उद्देश्य के लिए भी वे राज्य का हस्तक्षेप नापसंद करते थे ।'' उनकी उक्त है–

''मैं राज्य की शक्ति–वृद्धि को अत्यन्त भयावह मानता हूं क्योंकि यद्यपि शोषण को न्यूनतम करने के फलस्वरूप प्रत्यक्षतः वह कल्याणकारी प्रतीत होता है तथापि समस्त प्रगति के मूल में निहित ''व्यक्तित्व'' को नष्ट कर मानवता को सबसे बड़ी हानि पहुंचाता है।''

'गाँधीजी का लक्ष्य ऐसी समाज व्यवस्था का हे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वयं है। वह अपना शासक इस भांति करता है कि वह अपने पड़ोसियों को कभी बाधा नहीं बनता । अतएव आदर्श राजय में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि कोई राज्य ही नहीं होता।''[20] यह राज्यहीन समाज है।

मद्रास के मिशनरी सम्मेलन में 14 फरवरी 1916 को प्रदत्त अपने सुप्रसिद्ध भाषण में स्वदेशी भावना की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था, राजनीति के क्षेत्र में मुझे देशज संस्थाओं का उपयोग करना चाहिए।

अपनी देशज राजनीतिक संस्था की ओर मुड़ने के लिए गाँधीजी ने ये आह्वान उसे चौका भी दे सकते हैं जिसे भारत के राजनीतिक विकास की सूचना सामग्री के परीक्षण का अवसर नहीं मिलता है। ऐसे व्यक्ति के लिए भारत निरंकुश शक्ति की जन्मभूमि एवं विलक्षण वास भूमि ही है। भरत भाग्य के समस्त कठिन उतार–चढावों को झेल चुका हैं। उस अतिशय प्राचीनकाल से आरंभ कर जब भारतीय आर्य सिंधु एवं यमुना के किराने बसे थे उन दिनों तक जब तक कि विदेशी विजेताओं की विजय शक्ति ने उसकी जनता को पराधीन बना रखा था, वह लगातार ऐसी अशांतियों एवं हलचलों से गुजरता रहा है जिसका अनुभाव कम देशों को होगा। बिलकुल आरंभ के गुणों के स्वाधीन समाज विदेशी शत्रुओं के समक्ष अरक्षित थे अथवा शक्तिशाली सरदारों की महत्वकांक्षा से पीड़ित थे। वर्गों के उत्कट विभेदों का भी बहुत प्रभाव था और इस सबके कारण लगातार संशोधन एवं परिवर्तन होते रहते थे । एक के बाद एक चलने वाले दलों या सिद्धांतो के संघर्षों, अशांतियों एवं विकार के फलस्वरूप पुरानी व्यवस्थाओं की नींवें हिलती रही और जनता के पुराने संगठन परिवर्तित–संशोधित होते रहे। समाज पुनः पुनः नए सांचों में ढलता रहा, शासन बार–बार बनते रहे और इस तरह पुराना एवं सरल जीवन ढांचा बदल गया।

इस संदर्भ में हमें यह स्पमरण करना ही चाहिए कि प्राचीन भारत का ग्राम साम्यवादी गाँधीजी के राजनीतिक विधान का आदर्श नहीं है। तथ्य यह है कि वह निकटतम अभिगम है। उन्होंने लिखा हैः–

''अहिंसा पर आधारित सभ्यता का निकटतम अभिगम हाल ही तक वर्तमान भारतीय ग्राम गणराज्य है। मैं स्वीकार करता हूं कि यह बहुत अपरिष्कृत था। मैं यह जानता हूं कि उसमें मेरी परिभाषा एवं अवधारणा की अहिंसा विद्यमान नही थी, किन्तु उसका बीज इसमें था ।''

गाँधीजी ने कहा है कि ''स्वशासन का अर्थ है शासनिक नियंत्रण से मुक्ति पाने की सतत् चेष्टा, फिर चाहे वह विदेशी हो या स्वदेशी यदि जनता अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार के नियंत्रण के लिए उसकी मुखेपक्षी बनी रहेगी तो स्वराजी शासन की स्थिति भी दुःखद रहेगी ।'' गाँधीजी के लिए स्वतंत्रता केवल निषेधात्मक प्रयत्न नहीं है, उसका अर्थ किसी के अधिकारों पर बाह्य नियंत्रा के अभाव से कहीं अधिक है। उसका अर्थ है एक विवेकी प्राणी की निशिष्टतासूचक अंतःप्रेरणा के अनुसार आचरण करने की क्षमता। व्यक्ति की सच्ची स्वतंत्रता की मांग है कि एक ओर तो अन्यों द्वारा अपनी स्वतंत्रता की स्वीकृति कराई जाए। दूसरी ओर अपनी और अन्यों की स्वतंत्रता का समान सम्मान किया जाए ।'' गाँधीजी को पुनः उद्दत किया जावे तो ज्ञात होता है कि, ऐसे राज्यों में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वह अपना शासन इस प्रकार करता है कि वह कभी अपने पडोसियों के लिए विघ्न नहीं बनता और इसलिए आदर्श स्थिति राज्य में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि कोई राज्य ही नहीं होता।''

किन्तु अन्ततोगत्वा यह एक आदर्श ही है और यह तभी संभव है जब जनता पूर्णतः अहिंसक बन जाए। जैसा की पहले बताया जा चुका है, गाँधीजी स्वप्रदर्शी नहीं व्यवहारिक आदर्शवादी थे। यहां भी आदर्श तक पहुंचने के लिए वर्तमान प्रयास पर जोर दिया गया है उनकी तात्कालीन उपलब्धि पर नहीं । अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः संक्रमण काल के लिए वे राज्य का अस्तित्व कबूल करते हैं ।

जो भी हो गाँधीजी की दृष्टि में व्यक्ति का संबंध उसके सुधार के आधार पर राज्य के साथ निर्धारित किया जाता है । उनकी नजरों में समाज (राज्य) बिलकुल परिवार के समान है और इसलिए व्यक्ति एवं समाज का बहुत घनिष्ट संबंध है। इसी कारण यद्यपि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते रहे हैं तथापि सामाजिक कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करते। किन्तु इस सामाजिक कर्तव्य के पालन के लिए के किसी प्रकार के निग्रहकारी नियम और प्राधिकार की आवश्यकता नहीं समझते, तब इसकी पूर्ति कैसे हो? गाँधीजी पुनः स्वदेशी चेतना की सहायता लेते हैं और वे हिन्दुओं के वर्णधर्म में सामाजिक सम्बन्धता के तंत्र का गुर पाते हैं । कुछ संशोधनों के साथ वे उसे आदर्श सामाजिक संगठन के निमित प्रस्तावित करते हैं जिसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास का अधिकतम अवसर भी पाता है तथा सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए स्वेच्छया सामाजिक नियंत्रण को भी स्वीकारें ।

'अग्नि और सोम' की परस्पर अनुस्यूत यज्ञमयी अवस्था को 'ब्रह्म' कहा गया है। मानव जीवन और समाज के क्षेत्र में भी यही दोनों शक्तियां है जिन्हें हम सत्य और प्रेम कह सकते हैं । तेज और बल का प्रतीक जहां अग्नि को माना गया है वहीं सोम माधुर्य एवं सरलता का प्रतीक है। इसलिए सत्य में शक्ति है, प्रेम में करूणा। यदि शक्ति को करूणा का अभिषेक नहीं मिला तो, वह निरकुंश एवं निर्मम होती जाएगी, उसी प्रकार यदि करूणा को शक्ति का सहारा नहीं मिला तो वह निस्तेज एवं निर्वीर्य अकिंचनता का पर्याय बन जाएगी। भारतीय संस्कृति में मोटे तौर पर ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृतियों की दो धाराओं में यही दो शक्तियां अभिव्यक्ति है। हम आज तक ब्राह्मणों की विलक्षण बुद्धिमता और बौद्धों के अंतःकरण की विशालता का समन्वय नहीं साध सके। इसीलिए ब्राह्मण यदि एक और सत्य–संशोधन की तेजस्विनी विद्या न रहकर केवल ज्ञान प्रधान खंडन–मंडन का मृतशास्त्र बन गई, तो दूसरी ओर बुद्ध की करूणा एवं महावीर की अहिंसा ब्रह्मतेज के अभाव में भारतवर्ष में ही प्रायः निर्मूल हो गई । इसलिए जब तक भारत का तेजपुंज आध्यात्म गगनविहार करता रहेगा, वह वास्तविकता से विमुख रहेगा, तब तक समाज परिवर्तन व सामाजिक क्रांति की कल्पना तो दिवास्वप्र रहेगी ही । इसीलिए हमारे यहां आधुनिक युग में राजा राम मोहनराय से लेकर गाँधीजी तक सबों ने आध्यात्म के साथ अहिंसा, अद्वैत के साथ करूणा, सत्य

www.ignited.in

के साथ, ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का समन्वय साधनों की विराट चेष्टा की है। यही समन्वय सत्याग्रह–दर्शन का मेरूदंड है।

सत्याग्रह के लिए सत्य भी चाहिए और प्रेम भी । राज्य की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि सत्य के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व ही नहीं है। सत्याग्रह का मूल है सत्य का आग्रह या सत्य का बल है और सत्य ही धर्मबल भी है। ऋषियों ने सत्य को धर्म के रूप में ही देखा है–''सत्य धर्माय दृष्टये।'' सत्य ही धर्मों की सच्ची प्रतिष्ठा है। इसीलिए सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं। भगवत ने तो धर्म के चतुष्पाद में इस कलयुग में केवल एक पाद को ही शेष माना है–वह है सत्य । अतः सत्य ही धर्म का पर्याय है । सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं, कोई तक नहीं , कोई बल नहीं । सत्य से सूर्य तपता है, वायु चलती है और सत्य पर ही स्वर्ग भी अधिष्ठित है। संक्षेप में सृष्टि में सत्य के सिवा किसी अन्य चीज की हस्ती नहीं है। सत्य ही ईश्वर की भी आत्मा मानी गई है। सत्यवीर सुकरात के शब्दों में भी हम कह सकते हैं कि सत्य से बढ़कर कोई सत्य नहीं । इसीलिए सत्य के विनाश एवं असत्य की विजय का प्रश्न ही पैदा नहीं हो सकता। इसीलिए जहां सत्य है, वहीं जय है–सत्यमेव जयते नानृतम्।

जहां सत्य है, वहीं धर्म है और जहां धर्म है, वहीं जय है। यह संसार धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। स्वयं मर्यादा पुरूषोत्तम राम धर्म की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। अधर्म अल्पकाल के लिए भले ही वर्द्धमान प्रतीत हो, किन्तु अंत में उसका विनाश सुनिश्चित है। धर्म ही सर्वत्र–वन मे या रण में, जल में या अग्नि में, एकमात्र सहायक होता है।

सामाजिक और राजनैतिक जीवन में भी मानव अन्याय को मिटाने का निरंतर प्रयास करता है। जब–जब सत्ता सामान्यजन पर अनैतिक और अमानवीय कानून लादती रही है, तब–तब सामान्यजन ने अन्याय के विरोध का स्वर तीव्र किया है। समाज में जहां भी और जब भी नाइंसाफी होगी, उसका विरोध करना ही क्रांति और क्रांतिकारी की पहचान है। अन्याय के आगे झुक जाने का परिणाम प्रायः उतना ही भंयकर होता है, जितना कि स्वयं अन्याय करने का । गाँधीजी ने तो यहां तक कहा है कि अन्याय करने से अधिक पाप अन्याय सहना है। अतः अन्याय का प्रतिकार तो करना ही है, यह केवल हमार जन्मसिद्ध अधिकार ही नहीं है, वरन् हमारा धर्म ओर कर्तव्य भी है, परन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि प्रतिकार का स्वरूप क्या होगा । मानवीय सभ्यता के इतिहास में प्रतिकार की पांच अवस्थाओं का निदर्शन मिलता है –

1. हिंसा का बदला अधिक हिंसा से –
2. हिंसा के बदले हिंसा –
3. हिंसा के बदले अधिक हिंसा
4. हिंसा की उपेक्षा
5. सात्विकतम् अहिंसा

हिंसा निरन्तर नहीं हो सकती, क्योंकि हिंसा की आदत असंभव है। अतः हिंसात्मक क्रांति आदतन संभव नहीं है, क्योंकि इसके लिए किसी भी समूह में इतनी आध्यात्मिक और भौतिक सामर्थ्य नहीं होगी।

हिंसक शक्ति का उपयोग वास्तव में पशु बल के समक्ष आत्मबल एवं नीतिबल को नग्न पराजय है, क्योंकि यहां तक और माधुर्य के स्थान पर शास्त्र एवं हत्य है।

इसीलिए गाँधी ने अन्याय से लड़ने के लिए नीतिबल पर आधारित अहिंसक युद्ध–प्रणाली का अविष्कार किया, जिसे ''सत्याग्रह'' कहा गया है। इसीलिए सत्याग्रह ''निष्क्रिय प्रतिकार'' का कोई निर्जीव कामचलाऊ राजनैतिक उपकरण नहीं बल्कि इसका आधार शरीरबल की अपेक्षा आत्मबल की शाश्वत श्रेष्ठता है। यह ठीक है कि कष्ट–सहन जहां निष्क्रिय प्रतिकार में अनिच्छा एवं विवशता पर आधारित होने के कारण निष्फल हो जाता है, वहां सत्याग्रही के लिए कष्ट–सहन उसका जीवन एवं उसकी शक्ति है। ''इसीलिए यदि एक निषेधात्मक है, तो दूसरा विधायक । कष्ट सहन एवं त्याग जीवन की प्रासंगिक नहीं केन्द्रीय वास्तविकताएं है और नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक है ।'' ''इसीलिए निष्क्रिय प्रतिकार निषेधात्मक है तो सत्याग्रह विधायक। बुद्धि एवं हृदय दोनों को प्रभावित करने की शक्ति सत्याग्रह में समाहित है। तर्क बुद्धि को अधिक प्रभावित करता है, लेकिन कष्ट–सहन हृदय तक पहुंच कर आंतरिक विवेक को जगा देता है।'' गाँधीजी ने नोआरवाली में हिंसा की धूं–धूं जलती आग में अपने सभी साथियों को एक–एक करके अलग–अलग भेज दिया, तो हिन्दुओ में जहां असहायता के कारण निर्वीर्य क्रोध और द्वेष था, वहां साहस और आत्मविश्वास के साथ–साथ आत्म–गौरव प्रकट हुआ। नास्तिकता भागी और आतंक भी शरमाया । यह भी पशुबल पर आत्मबल की विजय । जहां पाशविक युद्ध नृशंसता एवं नीचता की होड़ है, वहां सत्याग्रह त्याग एवं प्रेम की सात्विक प्रतिद्वन्दिता है।

सत्याग्रह यदि सत्य का ही आग्रह है तो सबसे बडा सत्य सभी प्राणियों की समता है। जीवन ही हमारा परम मूल्य है। जीवन ही सर्वत्र सम्पन्न बनाने के लिए दूसरे को भी अपना बनाना पड़ेगा। ''दूर के करिले निकट बंधु । पर करिले भाई।'' अहिंसा वास्तव में ''सक्रिय प्रेम की विधायक वृत्ति है, जो बुराई करने वाले की भी भलाई करना चाहती है। सर्वत्र आत्मदर्शन ही प्रेम का आधार है। हिंसा या अदावत की वजह होती है लेकिन अहिंसा या प्रेम स्वाभाविक है। इसीलिए प्रेम ही सभ्यता और संस्कृति, धर्म और नैतिकता का अधिष्ठान है तथा हमारे जीवन व्यवहार का आधार है। हिंसा के अहिंसा, घृणा से प्रेम और प्रगति ही हमारे सांस्कृतिक एवं नैतिक अभ्युत्थान का चिन्ह है। स्वामी रामदास जी ने कहा है कि जहां प्रेम और भक्ति नहीं, वहां परमात्मा नहीं क्योंकि परमेश्वर स्वयं प्रेम की पूर्ति माने गए है । सत्याग्रह में तर्क और हथियार दोनों का सम्मिश्रण है। इसमें एक ओर तो तर्क माधुर्य है दूसरी ओर हथियार का बल भी । तर्क चाहे तो कितना ही अपूर्व क्यों न हो, वह किसी मूढ़ाग्रही और दुष्ट को समझा नहीं सकता । इस स्थिति में तर्कबल का त्याग कर पशुबल का प्रयोग किया जाय आत्मबल आधारित कष्ट सहन और आत्मबलिदान का शीतलमय ब्रह्मास्त्र छोड़ा जाय। पहला रास्ता खूनी क्रांति का है जिसे इतिहास कई बार दोहरा चुका है तथा इसकी पुनारावृति से कोई लाभ नहीं होगा। फिर आज की राजसत्ता की सर्वहारी अणु–शक्ति अगर किसी के सामने हारेगी, तो वह वरिष्ठ के शीतलमय ब्रह्मास्त्र के आगे ही। इसी के गाँधीजी बलवानों की अहिंसा या सत्याग्रह

कहते थे, जो आत्मरक्षण एवं आत्मोद्धार के लिए एक मात्र युगानुकूल साधन भी है। सत्याग्रह का सत्यबल वस्तुतः इसी आत्मबल या प्रेम–बल पर प्रतिष्ठित है, जिसमें हिंसक प्रतिकार का प्रश्न नहीं उठता।''

सत्याग्रह का विचार किसी व्यक्ति विशेष या देश काल विशेष का नहीं है। यूनान में सुकरात ने यही किया तो भारत में गांधी ने। प्राचीन काल में प्रहलाद ने यही रास्ता अपनाया तो वर्तमान में लोकतंत्र सत्ता में यही स्वीकारा गया । गांधी ने तो इस नियम–भंग को सामुदायिक स्वरूप प्रदान किया । अब तो इसको विश्व व्यापरी राजकीय उपयोगिता के साथ–साथ नैतिक प्रतिष्ठा भी मिल गई। दक्षिण अफ्रीका में अन्यायपूर्ण रंगभेद के विरूद्ध विश्व के विभिन्न भागों में शोषण, क्रूर कर्मों एवं युद्ध के विरोध में जो दृश्य दिखाई पड़ रहे हैं, उनसे सहज ही इसका अन्तर्राष्ट्रीय एवं मानवी महत्व समझा जा सकता है।

कहा जाता है कि लोकतंत्र में सत्याग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि इसमें सारा कारोबार जन प्रतिनिधियों के मार्फत चलता है और हर किसी को विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता है, किन्तु लोकतंत्र भी तो दोषयुक्त है जहां लोक के नाम पर ''पार्टी'' और पार्टी के तानाशाहों की तानाशाही चलती है। लोकतंत्र के संदर्भ में भी खासकर आमचुनावों में जनमत के फैसले के कारण जब राष्ट्रीय समझ–बूझ कुंठित सी हो जाती है और जब सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय प्राप्ति के लिए वैधानिक उपाय के लिए या तो अवसर ही नहीं रहता या वे अत्यन्त अक्ष्य एवं अशक्त हो जाते हैं तो उस समय अन्याय के प्रति आत्मसमर्पा और खूनी क्रांति दोनों के बीच का एक मात्र विकल्प ''सत्याग्रह'' ही रह जाता है।

अंत में निष्कर्ष यही निकलता है कि सत्याग्रह चाहे प्रतिरोधात्मक हो या रचनात्मक वह अन्याय एवं अत्याचार के विरोध में अहिंसक संघर्ष है। संघर्ष की अस्वीकृति सत्याग्रह की अस्वीकृति है।

ज्ञान :– नैतिकता की साधना के लिए ज्ञान की महत्ता को भी गाँधी ने स्वीकार किया है क्योंकि उनके मत में बिना ज्ञान के नैतिकता अंधानुकरण मात्र रह जाती है। ज्ञान के माध्यम से ही व्यक्ति के विवेक का विकास होता है और उसे स्वार्थ और परमार्थ में अंतर करने की दृष्टि प्राप्त होती है। आत्म–सुद्धि के लिए ज्ञान की आष्यकता होती है। इस प्रकार नैतिकता में मनुष्य का चेतन मस्तिष्क कार्य करता है।

आत्म स्वातंत्र्य :– महात्मा गाँधी ने आत्म स्वातंत्र्य तथा नियति मध्य अन्तर को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। गाँधी की मान्यता है कि मानव प्रारम्भ से ही आत्म स्वातंत्र्य के लक्ष्य की ओर प्रवृत्त रहा है तथा यह कामना भी करता है कि वह इसमें सफलता प्राप्त करे किंतु विवेक के आधार पर इष्वर दर्षन सुलभ नहीं है। इसमें नियति का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। ताकि मानव को अपनी सीमाओं का आभास हो सकें।

आत्म शक्ति :– आत्म शक्ति को भी गाँधी जीवन के नैतिक आधार के रूप में स्वीकार करते है। गाँधी ने आत्मा की शक्ति को दर्षाते हुए मानव के दैहिक बन्धनों से मुक्ति को महत्त्व दिया है। यदि मनुष्य आत्मबल के अनुसार व्यवहार करना प्रारम्भ कर दे तो उसे मानवता की सेवा के लिए अपूर्व उत्साह प्राप्त होता है। आत्म शक्ति मनुष्य को परमार्थ के लिए प्रेरित करती है। आत्मबल मानव की सच्ची विनम्रता का प्रतीक है, जिसमें अहम भावना के लिए कोई स्थान नहीं है।

स्वदेषी की अवधारणा – महात्मा गांधी मूलतः अर्थशास्त्री नहीं थे, न ही वे एक ऐसे नेता थे जिनका एकमात्र उद्देश्य भारत को विष्व की आर्थिक महाषक्ति बनाना था बल्कि वे एक ऐसे कर्मण्यवादी विचारक थे, जो भारत को गुलामी की जंजीरों से मुक्त कराना चाहते थे। अपने इस प्रयास के दौरान उन्होंने पाया कि भारत का सर्वाधिक नुकसान आर्थिक क्षेत्र में हो रहा है। धन के द्रीव गति से होने वाले निष्कासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था की कमर तोड दी। उन्होंने अपने राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक लक्ष्यों को उसका सहयोगी बनाया। स्वदेषी के रूप में चरखा तथा खादी इसके प्रतीक बनें। स्वदेषी को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, स्वदेषी की भावना का अर्थ है हमारी यह भावना, जो हमें दूर को छोड़कर अपने समीपवर्ती प्रदेष का ही उपयोग और सेवा करना सिखाती है।